५ कर्म के भेद-प्रभेद

☐ श्री रमेश मुनि शास्त्री

कर्म के मुख्य भेद दो हैं—द्रव्य कर्म और भाव कर्म। कर्म और प्रवृत्ति के कार्य और कारण भाव को संलक्ष्य में लेकर पुद्गल परमाणुओं के पिण्ड रूप कर्म को द्रव्य-कर्म कहा है और राग-द्वेष रूप प्रवृत्तियों को भाव कर्म कहा जाता है। जैसे वृक्ष से बीज और बीज से वृक्ष की परम्परा अनादि काल से चलती आ रही है, ठीक उसी प्रकार द्रव्यकर्म से भावकर्म और भावकर्म से द्रव्यकर्म की परम्परा अर्थात् सिलसिला भी अनादि है। इस सन्दर्भ में यह भी कहा जा सकता है कि आत्मा से सम्बन्ध जो कार्मणवर्गणा है, पुद्गल है—वह द्रव्यकर्म है। द्रव्यकर्म युक्त आत्मा की जो प्रवृत्ति है, रागद्वेषात्मक जो भाव है वह भावकर्म है।

द्रव्यकर्म की मूलभूत प्रवृत्तियाँ आठ हैं[1]—जो सांसारिक-आत्मा को अनुकूल और प्रतिकूल फल प्रदान करती हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—

१–ज्ञानावरणीय	५–आयु
२–दर्शनावरणीय	६–नाम
३–वेदनीय	७–गोत्र
४–मोहनीय	८–अन्तराय

---

१. (क) नाणस्सावरणिज्जं दंसणावरणं तथा।
वेयणिज्जं तहा मोहं आउकम्मं तहेव य॥
नामकम्मं च गोयं च, अन्तरायं तहेव य।
एवमेयाइं कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ॥
—उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३३/२–३॥

(ख) स्थानाङ्ग सूत्र ८/३/५९६॥

(ग) भगवती सूत्र शतक–६ उद्देशा ९

(घ) प्रज्ञापना सूत्र २३/१॥

(ङ) प्रथम कर्म ग्रन्थ गाथा–३॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इन आठ कर्म प्रवृत्तियों के संक्षिप्त रूप से दो अवान्तर भेद हैं—चार घाती कर्म[1] और चार अघाती[2] कर्म।

घातीकर्म	अघातीकर्म
१–ज्ञानावरणीय	१–वेदनीय
२–दर्शनावरणीय	२–आयु
३–मोहनीय	३–नाम
४–अन्तराय	४–गोत्र

जो कर्म आत्मा के स्वाभाविक गुणों को आच्छादित करते हैं, उन्हें विकसित नहीं होने देते हैं, वे कर्म घाती कर्म हैं। इन घाती कर्मों की अनुभाग-शक्ति का असर आत्मा के ज्ञान, दर्शन आदि गुणों पर होता है। जिससे आत्मिक-गुणों का विकास अवरुद्ध हो जाता है। घाती कर्म आत्मा के मुख्य गुण अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त-वीर्य गुणों का घात करता है। जिससे आत्मा अपना विकास नहीं कर पाती है। जो अघाती कर्म आत्मा के निज-गुणों का प्रतिघात तो नहीं करता है, किन्तु आत्मा के जो प्रतिजीवी गुण हैं उनका घात करता है अतः वह अघाती कर्म है। इन अघाती-कर्मों की अनुभाग शक्ति का असर जीव के गुणों पर तो नहीं होता, किन्तु अघाती कर्मों के उदय से आत्मा का पौद्गलिक-द्रव्यों से सम्बन्ध जुड़ जाता है। जिससे आत्मा 'अमूर्तोऽपि मूर्त इव' प्रतीत होती है। यही कारण है कि अघाती-कर्म के कारण आत्मा शरीर के कारागृह में आबद्ध रहती है जिससे आत्मा के अव्याबाध सुख, अटल अवगाहना, अमूर्तिकत्व और अगुरुलघु गुण प्रकट नहीं होते हैं।

१. ज्ञानावरणीय कर्म :

जीव का लक्षण उपयोग है।[3] उपयोग शब्द ज्ञान और दर्शन इन दोनों का संग्राहक है।[4] ज्ञान साकारोपयोग है और दर्शन निराकारोपयोग है।[5]

---

१. (क) गोम्मटसार कर्मकाण्ड ९॥
   (ख) पंचाध्यायी २/९९८॥
२. (क) पंचाध्यायी २/९९९॥
   (ख) गोम्मटसार-कर्मकाण्ड–९॥
३. (क) उवओगलक्खणेणं जीवे—भगवती सूत्र १३/४/४/८०॥
   (ख) उवओगलक्खणे जीवे —भगवती सूत्र २/१०॥
   (ग) गुणओ उवओगगुणे —स्थानांग सूत्र ५/३/५३०॥
   (घ) जीवो उवओगलक्खणो—उत्तराध्ययन सूत्र २८/१०॥
   (ङ) द्रव्यसंग्रह गाथा–१
   (च) तत्त्वार्थ सूत्र–२/८॥
४. जीवो उवओगमओ, उवओगो णाणदंसणो होई॥
   नियमसार–१०॥
५. तत्त्वार्थ सूत्र भाष्य २/९॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इस कर्म के प्रभाव से ज्ञानोपयोग आच्छादित रहता है। आत्मा का जो ज्योतिर्मय स्वभाव है, वह इस कर्म से आवृत्त हो जाता है। प्रस्तुत कर्म की परितुलना कपड़े की पट्टी से की गई है। जिस प्रकार नेत्रों पर कपड़े की पट्टी लगाने पर नेत्र-ज्योति या नेत्र ज्ञान अवरुद्ध हो जाता है उसी प्रकार इस ज्ञानावरण-कर्म के कारण आत्मा की समस्त वस्तुओं को यथार्थ रूप से जानने की ज्ञान-शक्ति आच्छन्न हो जाती है।[1] ज्ञानावरण कर्म की उत्तर-प्रकृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं[2]—

१—मतिज्ञानावरण ३—अवधिज्ञानावरण
२—श्रुतज्ञानावरण ४—मनः पर्याय ज्ञानावरण
५—केवल ज्ञानावरण।

इस कर्म की उत्तर प्रकृतियों का वर्गीकरण देशघाती और सर्वघाती इन दो भेदों के रूप में भी हुआ है। जो प्रकृति-स्वघात्य ज्ञानगुण का पूर्णरूपेण घात करती है वह सर्वघाती है और जो ज्ञानगुण का आंशिक रूप से घात करती है वह प्रकृति देश-घाती कहलाती है। देश-घाती प्रकृतियाँ चार हैं, वे ये हैं—मति ज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण और मनःपर्याय ज्ञानावरण और सर्वघाती प्रकृति केवलज्ञानावरणीय है। सर्वघाती प्रकृति का अभिप्राय यह है कि केवलज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के ज्ञान गुण को सर्वथा रूप से आच्छादित नहीं करता है। परन्तु यह केवल "केवलज्ञान" का ही सर्वथा निरोध करता है। निगोद-अवस्था में भी जीवों के उत्कट-ज्ञानावरणीय कर्म-उदित रहता है। जिस प्रकार दीप्तिमान्-सूर्य घनघोर घटाओं से आच्छादित होने पर भी उसका प्रखर-प्रकाश आंशिक रूप से अनावृत्त रहता है। जिसके कारण ही दिन और रात का भेद भी ज्ञात हो जाता है। उसी प्रकार ज्ञान का जो अनंतवां भाग है वह भी

---

१. (क) सरउग्गयससिनिम्मलयरस्स जीवस्स छायणं जमिहं।
णाणावरणं कम्मं पडोवमं होइ एवं तु॥
स्थानांग टीका—२/४/१०५॥

(ख) प्रथम कर्मग्रन्थ—गाथा—६

२. (क) नाणावरणं पंचविहं, सुयं आभिणिबोहियं।
ओहिनाणं चं तइयं, मणनाणं च केवलं॥
उत्तराध्ययन सूत्र—३३/४॥

(ख) तत्त्वार्थ सूत्र—८/६-७॥

(ग) प्रज्ञापना सूत्र—२३/२

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सदा-सर्वदा अनावृत्त रहता है ।[1] जैसे घनघोर-घटाओं को विदीर्ण करता हुआ सूर्य प्रकाशमान् हो उठता है, उसकी स्वर्णिम-प्रभा भूमण्डल पर आती है पर सभी भवनों पर उसकी दिव्य किरणें एक समान नहीं गिरतीं । भवनों की बनावटों के अनुसार मन्द, मन्दतर और मन्दतम गिरती हैं, वैसे ही ज्ञान का दिव्य आलोक मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण आदि कर्म-प्रकृतियों के उदय के तारतम्य के अनुसार मन्द, मन्दतर और मन्दतम हो जाता है । ज्ञान आत्मा का एक मौलिक गुण है । वह पूर्णरूपेण कभी भी तिरोहित नहीं हो सकता । यदि वह दिव्य गुण तिरोहित हो जाय तो जीव अजीव हो जाएगा । इस कर्म की न्यूनतम स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटा-कोटि सागरोपम की है ।[2]

२. दर्शनावरणीय कर्म :

वस्तुओं की विशेषता को ग्रहण किये बिना उनके सामान्य धर्म का बोध करना दर्शनोपयोग है ।[3] इस कर्म के कारण दर्शनोपयोग आच्छादित होता है । जब दर्शन गुण परिसीमित होता है, तब ज्ञानोपलब्धि का द्वार भी अवरुद्ध हो जाता है । प्रस्तुत कर्म की परितुलना अनुशास्ता के उस द्वारपाल के साथ की गई है जो अनुशासक से किसी व्यक्ति को मिलने में बाधा पहुँचाता है, उसी

---

१. (क) सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स
अणंतभागो णिच्चु घाड़िओ हवइ ।
जइ पुण सो वि आवरिज्जा तेणं जीवा अजीवत्तं पावेज्जा ।
सुट्ठुवि मेहसमुदये होइ पभा चन्दसूराणं ।
नन्दीसूत्र—४३ ।।

(ख) देशः-ज्ञानास्याऽऽभिनिबोधिकादिभावृणोतीति देशज्ञानावरणीयम्, सर्वं ज्ञानं केवलाख्यमावृणोतीति सर्वज्ञानावरणीयं केवलावरणं हि आदित्य कल्पस्य केवलज्ञानरूपस्य। जीवस्याच्छादकतया सान्द्रमेघवृन्दकल्पमितितत्सर्वज्ञानावरणं । मत्याद्यावरणं तु घनातिच्छादितादित्येषत्प्रभाकल्पस्य केवलज्ञानदेशस्य कटकुटचादिरूपावरणतुल्यमिति देशावरणमिति ।
स्थानांग सूत्र—२/४/१०५ टीका

२. (क) तत्त्वार्थ सूत्र—८/१५

(ख) पंचम कर्म ग्रन्थ गाथा–२६
उत्तराध्ययन सूत्र–३३/१९–२० ।।

३. जं सामन्नग्गहणं भावाणं नेव कट्टु आगारं ।
अविसेसिऊण अत्थे, डंसणमिह वुच्चए समये ।।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार दर्शनावरण कर्म भी पदार्थों के सामान्य धर्म के बोध को रोकता है,[1] तात्पर्य यह है कि इसके प्रभाव से वस्तु-तत्त्व के सामान्य धर्म का बोध नहीं हो सकता।

दर्शनावरणीय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ निम्नलिखित हैं[2]—

१–चक्षुदर्शनावरण	५–निद्रा
२–अचक्षुदर्शनावरण	६–निद्रानिद्रा
३–अवधिदर्शनावरण	७–प्रचला
४–केवलदर्शनावरण	८–प्रचलाप्रचला
	९–स्त्यानर्द्धि

दर्शनावरणीय कर्म भी देशघाती और सर्वघाती के भेद से दो प्रकार का है। चक्षु, अचक्षु और अवधिदर्शनावरण ये तीन प्रकृतियां देशघाती हैं और इनके अतिरिक्त छह प्रकृतियाँ सर्वघाती हैं। सर्वघाती प्रकृतियों में केवल दर्शनावरण प्रमुख हैं। दर्शनावरण का पूर्णतः क्षय होने पर जीव की अनन्त दर्शन-शक्ति प्रगट हो जाती है, जब उसका क्षयोपशम होता है तब चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन का प्रगटन होता है। इस कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटा-कोटि सागरोपम की और न्यूनतम स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है।[3]

३. वेदनीय कर्म :

वेदनीय कर्म आत्मा के अव्याबाध गुण को आवृत्त करता है। इसके उदय से आत्मा को सुख-दुःख की अनुभूति होती है, यह दो प्रकार का है[4]—साता-वेदनीय और असाता वेदनीय। सातावेदनीय कर्म के प्रभाव से जीव को भौतिक सुखों की उपलब्धि होती है और असातावेदनीय कर्म के उदय होने पर दुःख

---

१. (क) प्रथम कर्मग्रन्थ–९ (ख) गोम्मटसार कर्मकाण्ड–२१
(ग) स्थानांग सूत्र २/४/१०५ ।। टीका

२. (क) समवायाङ्ग सूत्र–९ (ख) स्थानांग सूत्र ८/३/६६८
(ग) प्रज्ञापना सूत्र–२३/१ ।। (घ) उत्तराध्ययन सूत्र ३३/५-८

३. (क) उत्तराध्ययन सूत्र-३३/१९–२०
(ख) प्रज्ञापना सूत्र पद–२९ उ० २ सूत्र–२९३
(ग) तत्त्वार्थसूत्र–८/१५।
(घ) पंचम कर्मग्रन्थ गाथा–२६

४. (क) स्थानांग सूत्र २/१०५ ।।
(ख) वेयणीयं पि दुविहं सायमसायं च आहियं ।।
उत्तराध्ययन सूत्र–३३/७

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्त होता है।[1] इस कर्म की परितुलना मधु से लिप्त तलवार की धार से की गई है। तलवार की धार पर परिलिप्त मधु का आस्वादन करने के समान सातावेदनीय कर्म है और जीभ के कट जाने के सदृश असातावेदनीय हैं।

सातावेदनीय के आठ प्रकार इस प्रकार से प्रतिपादित हैं—[2]

१–मनोज्ञ शब्द	५–मनोज्ञ स्पश
२–मनोज्ञ रूप	६–सुखित मन
३–मनोज्ञ गन्ध	७–सुखित वाणी
४–मनोज्ञ रस	८–सुखित काय

असातावेदनीय कर्म के आठ प्रकार हैं, उनके नाम इस प्रकार से प्रतिपादित हैं।[3]

१–अमनोज्ञ शब्द	५–अमनोज्ञ स्पर्श
२–अमनोज्ञ रूप	६–दुःखित मन
३–अमनोज्ञ गन्ध	७–दुःखित वाणी
४–अमनोज्ञ रस	८–दुःखित काय

वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम की है।[4] भगवती सूत्र में उल्लेख मिलता है कि वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति दो समय की है।[5] यहाँ यह सहज ही प्रश्न

---

१. तत्त्वार्थ सूत्र ८/८ सर्वार्थसिद्धि ।। टीका।

२. (क) प्रज्ञापना सूत्र–२३/३ ।।
(ख) स्थानाङ्ग सूत्र–८/४८८ ।।

३. (क) असायावेदणिज्जे णं भंते ! कम्मे कतिविधे पण्णत्ते ? गोयमा ! अट्ठविधे पन्नत्ते तं जहा अमणुण्णा सद्दा, जाव कायदुहया ।।
प्रज्ञापना सूत्र–२३/३/१५

(ख) स्थानांग सूत्र ८/४८८

४. (क) उदही सरिसनामाणं तीसई कोडिकोडीओ ।
उक्कोसिया ठिई होइ अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ।।
आवरणिज्जाण दुण्हं पि, वेयणिज्जे तहेव य ।
अन्तराए य कम्मम्मि, ठिई एसा वियाहिया ।।
उत्तराध्ययन सूत्र–३३/१९–२०

(ख) प्रज्ञापना सूत्र–२३/२/२१–२९ ।।

५. वेदणिज्जं जह दो समया ।।
भगवती सूत्र ६/३ ।।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

उदबुद्ध हो सकता है कि—प्रज्ञापना, उत्तराध्ययन इन दोनों आगमों में इस कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की बताई है और भगवती सूत्र में दो समय की कही गई है। इन दोनों कथनों में विरोध लगता है पर ऐसा है नहीं कारण कि मुहूर्त के अन्तर्गत जितना भी समय आता है वह अन्तर्मुहूर्त कहलाता है। दो समय को अन्तर्मुहूर्त कहने में कोई बाधा या विसंगति नहीं है। वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त है, ऐसा कथन सर्वथा-संगत है।

४. मोहनीय कर्म :

जो कर्म आत्मा में मूढ़ता उत्पन्न करता है वह मोहनीय कर्म कहलाता है। अष्टविध कर्मों में यह कर्म सबसे अधिक शक्तिशाली है, सातकर्म प्रजा हैं तो मोहनीय कर्म राजा है। इसके प्रभाव से वीतराग भाव भी प्रगट नहीं होता है। वह आत्मा के परम-शुद्ध भाव को विकृत कर देता है। इसके कारण ही आत्मा राग-द्वेषात्मक-विकारों से ग्रसित हो जाता है।

इस कर्म की परितुलना मदिरापान से की गई है। जैसे व्यक्ति मदिरापान से परवश हो जाता है उसे किञ्चित् मात्र भी स्व तथा पर के स्वरूप का भान नहीं होता है।[1] वह स्व-पर के विवेक से विहीन हो जाता है। वैसे ही मोहनीय-कर्म के उदय-काल में जीव को हिताहित का, तत्त्व-अतत्त्व का भेद-विज्ञान नहीं हो सकता, वह संसार के तानें-बाने में उलझा हुआ रहता है।

मोहनीय-कर्म का वर्गीकरण दो प्रकार से किया गया है[2]—

१—दर्शन मोहनीय २—चारित्र मोहनीय

जो व्यक्ति मदिरापान करता है, उसकी बुद्धि कुण्ठित हो जाती, मूर्च्छित हो जाती है। ठीक इसी प्रकार दर्शन मोहनीय-कर्म के उदय पर आत्मा का विवेक भी विलुप्त हो जाता है, यही कारण है कि वह अनात्मीय-पदार्थों को आत्मीय समझने लगता है।[3]

---

१. (क) मज्जं व मोहणीयं
प्रथम कर्मग्रन्थ—गाथा—१३

(ख) गोम्मटसार कर्मकाण्ड—२१

(ग) जह मज्जपाणमूढो, लोए पुरिसो परव्वसो होइ।
तह मोहेणविमूढो, जीवो उ परव्वसो होइ॥
स्थानांग सूत्र २/४/१०५ टीका

२. (क) मोहणिज्जं पि दुविहं, दंसणे चरणे तहा।
उत्तराध्ययन सूत्र ३३/८॥

(ख) मोहणिज्जे कम्मे दुविहे पण्णत्ते तं जहा-दंसण मोहणिज्जे चेव चरित्तमोहणिज्जे चेव॥ स्थानांग सूत्र २/४/१०५॥

(ग) प्रज्ञापना सूत्र २३/२॥

३. पंचाध्यायी २/९८—६—७॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

दर्शन-मोहनीय के तीन प्रकार हैं—[1] १. सम्यक्त्व-मोहनीय, २. मिथ्यात्व मोहनीय, ३. मिश्र मोहनीय। इन तीनों में मिथ्यात्व मोहनीय सर्वघाती है, सम्यक्त्व मोहनीय देशघाती है[2] और मिश्रमोहनीय जात्यन्तर सर्वघाती है। मोहनीय कर्म का दूसरा प्रकार चारित्रमोह है। इस प्रकृति के प्रभाव से आत्मा का चरित्र गुण विकसित नहीं होता है।[3]

चारित्र मोहनीय के दो प्रकार प्रतिपादित हैं[4]—१. कषाय मोहनीय, २. नोकषाय मोहनीय। कषायमोहनीय का वर्गीकरण सोलह प्रकार से हुआ है और नोकषाय के नौ या सात प्रकार हैं।[5] कषाय मोहनीय के सोलह प्रकार इस रूप में वर्णित हैं—

१–अनन्तानुबन्धी क्रोध	९–प्रत्याख्यानावरण क्रोध
२–अनन्तानुबन्धी मान	१०–प्रत्याख्यानावरण मान
३–अनन्तानुबन्धी माया	११–प्रत्याख्यानावरण माया
४–अनन्तानुबन्धी लोभ	१२–प्रत्याख्यानावरण लाभ
५–अप्रत्याख्यानावरण क्रोध	१३–संज्वलन क्रोध
६–अप्रत्याख्यानावरण मान	१४–संज्वलन मान
७–अप्रत्याख्यानावरण माया	१५–संज्वलन माया
८–अप्रत्याख्यानावरण लोभ	१६–संज्वलन लोभ।

---

१. सम्मत्तं चेव मिच्छत्तं, सम्मामिच्छन्तमेव य।
एयाओ तिन्नि पवडीओ, मोहणिज्जस्स दंसणे॥
उत्तराध्ययन सूत्र ३३/९॥

२. (क) केवलणाणावरणं दंसणछक्कं च मोहबारसगं।
ता सव्वघाइसन्ना, भवंति मिच्छत्तवीसइमं॥
स्थानांग सूत्र २/४/१०५ टीका

(ख) गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) ३९॥

३. पंचाध्यायी–२१/६॥

४. (क) प्रज्ञापना सूत्र–२३/२॥

(ख) चारित्तमोहणं कम्मं दुविहं तं वियाहियं।
कसायमोहणिज्जं तु नोकसायं तहेव य॥
उत्तराध्ययन सूत्र–३१/१०॥

५. (क) सोलसविहभेएणं, कम्मं तु कसायजं।
सत्तविहं नवविहं वा, कम्मं च नोकसायजं॥
उत्तराध्ययन सूत्र–३३/११॥

(ख) प्रज्ञापना सूत्र २३/२॥

(ग) समवायांग सूत्र–समवाय–१६

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार कषायमोहनीय के सोलह भेद हुए। इसके उदय से सांसारिक प्राणियों में क्रोधादि कषाय उत्पन्न होते हैं। कषाय शब्द कष और आय इन दो शब्दों से निष्पन्न हुआ है। कष का अर्थ है—संसार और आय का अर्थ है—लाभ। तात्पर्य यह है कि जिससे संसार अर्थात् भव-भ्रमण की अभिवृद्धि होती है वह कषाय कहलाता है।[1]

अनन्तानुबन्धी चतुष्क के उदय से आत्मा अनन्तकाल-पर्यन्त संसार में परिभ्रमणशील रहता है, यह कषाय सम्यक्त्व का प्रतिघात करता है[2] अप्रत्याख्यानावरणीय चतुष्क के प्रभाव से श्रावक धर्म अर्थात् देश-विरति की प्राप्ति नहीं होती है।[3] प्रत्याख्यानावरण चतुष्क के प्रभाव से श्रमण धर्म[4] की प्राप्ति नहीं हो सकती।[5] संज्वलन कषाय के उदय से यथाख्यात चारित्र अर्थात् उत्कृष्ट चारित्र धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती।[6]

अनन्तानुबन्धी चतुष्क की स्थिति यावज्जीवन की है। अप्रत्याख्यानी चतुष्क की एक वर्ष की है, प्रत्याख्यानी कषाय की चार मास की है और संज्वलन कषाय की स्थिति एक पक्ष की है।[7]

नोकषाय मोहनीय—जिन का उदय कषायों के साथ होता रहता है, अथवा जो कषायों को उत्तेजित करते हैं, वे नोकषाय कहलाते हैं।[8] इसका दूसरा

---

१. कम्मं कसो भवो वा, कसमातो सिं कसाया वो ।
कसमाययंति व जतो, गमयंति कसं कसायत्ति ।।
विशेषावश्यक भाष्य गाथा–१२२७ ।।

२. तत्त्वार्थ सूत्र भाष्य–अ० ८ सूत्र–१० ।।

३. अप्रत्याख्यान कषायोदयाद्विरतिर्नभवति ।
तत्त्वार्थ भाष्य–८/१० ।।

४. तत्त्वार्थ सूत्र–८/१० ।। भाष्य ।।

५. तत्त्वार्थ सूत्र ८/१० भाष्य

६. (क) गोम्मटसार, जीवकाण्ड–२८३ ।।
(ख) संज्वलनकषायोदयाद्यथाख्यातचारित्रलाभो न भवति
तत्त्वार्थ सूत्र ८/१० भाष्य

७. (क) जाजीववरिसचउमासपक्खगानरयतिरयनर अमरा ।
सम्माणुसव्वविरई अहखायचरित्तधायकरा ।।
—प्रथम कर्मग्रन्थ–गाथा १८
(ख) अंतो मुहुत्तपक्खं छम्मासं संरवणंत भवं ।
संजलणमादियाणं वासणकालो हु बोद्धव्वो ।।
गोम्मटसार कर्म काण्ड ।।

८. कषायसहवर्तित्त्वात्, कषायप्रेरणादपि ।
हास्यादिनवकस्योक्ता, नोकषायकषायता ।।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

नाम अकाषाय भी है।[1] अकषाय का अर्थ कषाय का अभाव नहीं, किन्तु ईसत् कषाय, अल्प कषाय है । इसके नव प्रकार हैं—

१–हास्य	५–शोक
२–रति	६–जुगुप्सा
३–अरति	७–स्त्रीवेद
४–भय	८–पुरुषवेद

९–नपुंसकवेद

इस प्रकार चारित्र मोहनीय की इन पच्चीस प्रकृतियों में से संज्वलन-कषाय चतुष्क और नोकषाय ये देशघाती हैं, और अवशेष जो बारह प्रकृतियाँ हैं वे सर्वघाती कहलाती हैं।[2] इस कर्म की जघन्य-स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटाकोटि सागरोपम की है।[3]

५. आयुष्य कर्म :

आयुष्यकर्म के प्रभाव से प्राणी जीवित रहता है और इस का क्षय होने पर मृत्यु का वरण करता है।[4] यह जीवन अवधि का नियामक तत्त्व है। इसकी परितुलना कारागृह से की गई है। जिस प्रकार न्यायाधीश अपराधी के अपराध को संलक्ष्य में रखकर उसे नियतकाल तक कारागृह में डाल देता है, जब तक अवधि पूर्ण नहीं होती है तब तक वह कारागृह से विमुक्त नहीं हो सकता। उसी प्रकार आयुष्य-कर्म के कारण ही सांसारिक जीव रस, देह-पिण्ड से मुक्त नहीं हो सकता।[5] इस कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ चार हैं—[6]

१–नरकायु	३–मनुष्यायु
२–तिर्यञ्चायु	४–देवायु ।

---

१. तत्त्वार्थराजवार्तिक–८/९–१० ।।
२. स्थानांग सूत्र-टीका–२/४/१०५ ।।
३. (क) उत्तराध्ययन सूत्र–३३/२१
   (ख) सप्ततिर्मोहनीयस्य ।
४. प्रज्ञापना सूत्र २३/१ ।।
५. (क) जीवस्य अवट्ठाणं करेदि आऊ हडिव्व णरं ।
   गोम्मटसार कर्मकाण्ड–११
   (ख) सुरनरतिरिनरयाऊ हडिसरिसं
   प्रथम कर्म ग्रन्थ–२३ ।।
६. नेरइयतिरिक्खाउं मणुस्साउं तहेव य ।
   देवाउयं चउत्थं तु आउकम्मं चउव्विहं ।।
   उत्तराध्नयन सूत्र ३३/१२ ।।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आयुष्क कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरोपम वर्ष की है।[1]

६. नाम कर्म :

जिस कर्म के कारण आत्मा गति, जाति, शरीर आदि पर्यायों के अनुभव करने के लिये बाध्य होती है वह नाम कर्म है।[2] इस कर्म की तुलना चित्रकार से की गई है। जिस प्रकार एक चित्रकार अपनी कमनीय कल्पना में मानव, पशु-पक्षी आदि विविध प्रकारों के चित्र चित्रित कर देता है, उसी प्रकार नाम-कर्म भी नारक-तिर्यंच, मनुष्य और देव के शरीर आदि की संरचना करता है। तात्पर्य यह है कि यह कर्म शरीर, इन्द्रिय, आकृति, यश-अपयश आदि का निर्माण करता है।[3]

नामकर्म के प्रमुख प्रकार दो हैं—शुभ और अशुभ।[4] अशुभ नामकर्म पापरूप हैं और शुभ नामकर्म पुण्यरूप हैं।

नामकर्म की उत्तर प्रकृतियों की संख्या के सम्बन्ध में अनेक विचार-धाराएँ हैं। मुख्य रूप से नामकर्म की प्रकृतियों का उल्लेख इस प्रकार से मिलता है—नामकर्म की बयालीस उत्तर प्रकृतियाँ भी होती हैं।[5] जैन आगम-साहित्य में व अन्य ग्रन्थों में नामकर्म के तिरानवे भेदों का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[6]

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र–३३/२२।

२. नामयति–गत्यादिपर्यायानुभवनं प्रति प्रवणयति जीवमिति नाम।
प्रज्ञापना सूत्र २३/१/२८८ टीका

३. जह चित्तयदो निउणो अणेगरुवाइं कुणइ रूवाइं।
सोहणमसोहणाइं चोक्खमचोक्खेहिं वण्णेहिं॥
तह नामंपि हु कम्मं अणेगरूवाइं कुणइ जीवस्स।
सोहणमसोहणाइं इट्ठाणिट्ठाइं लोयस्स॥
स्थानांग सूत्र–२/४॥ १०५ टीका

४. नामं कम्मं तु दुविहं, सुहमसुहं च आहियं॥
उत्तराध्ययन ३३/१३॥

५. (क) प्रज्ञापना सूत्र–२३/२–२९३
(ख) तत्त्वार्थ सूत्र–८/१२॥
(ग) नामकम्मे बायालीसविहे पण्णत्ते!
समवायांग सूत्र–समवाय–४२

६. (क) प्रज्ञापना सूत्र–२३/२/२९३॥
(ख) गोम्मटसार–कर्मकाण्ड–२२॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कर्म-विपाक ग्रन्थ में एक सौ तीन भेदों का प्रतिपादन मिलता है।[1] अन्यत्र इकहत्तर उत्तर प्रकृतियों का उल्लेख मिलता है, जिनमें शुभ नामकर्म की सैंतीस प्रकृतियाँ मानी गई हैं।[2]

बयालीस प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं—

१. गतिनाम
२. जातिनाम
३. शरीरनाम
४. शरीर अंगोपाङ्गनाम
५. शरीर बन्धननाम
६. शरीर संघातननाम
७. संहनननाम
८. संस्थाननाम
९. वर्णनाम
१०. गन्धनाम
११. रसनाम
१२. स्पर्शनाम
१३. अगरुलघुनाम
१४. उपघातनाम
१५. परघातनाम
१६. आनुपूर्वीनाम
१७. उच्छ्वासनाम
१८. आतपनाम
१९. उद्योतनाम
२०. विहायोगतिनाम
२१. त्रसनाम
२२. स्थावरनाम
२३. सूक्ष्मनाम
२४. बादरनाम
२५. पर्याप्तनाम
२६. अपर्याप्तनाम
२७. साधारण शरीरनाम
२८. प्रत्येक शरीरनाम
२९. स्थिरनाम
३०. अस्थिरनाम
३१. शुभनाम
३२. अशुभनाम
३३. सुभगनाम
३४. दुर्भगनाम
३५. सुस्वरनाम
३६. दुःस्वरनाम
३७. आदेय नाम
३८. अनादेय नाम
३९. यशः कीर्तिनाम
४०. अयशः कीर्तिनाम
४१. निर्माणनाम
४२. तीर्थंकर नाम

नामकर्म की जघन्यस्थिति आठ मुहूर्त की है और उत्कृष्ट-स्थिति बीस कोटाकोटि सागरोपम की है।[3]

---

१. कर्मग्रन्थ प्रथम-भाग गाथा–३

२. सत्ततीसं नासस्स पयई ओ पुन्नमाह (हु) ता य इमो ॥
नवतत्त्वप्रकरणम्–७ भाष्य–३७ ॥

३. (क) उदहीसरिसनामाणं बीसई कोडिकोडीओ ।
नामगोत्ताणं उक्कोसा, अट्ठमुहुत्ता जहन्निया ॥
उत्तराध्ययन सूत्र–३३/२३
(ख) तत्त्वार्थ सूत्र–८/१७–२० ॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

७. गोत्र कर्म :

जिस कर्म के उदय से जीव उच्च अथवा नीच कुल में जन्म लेता है, उसे गोत्र कर्म कहते हैं।[1] गोत्र कर्म दो प्रकार का[2] है—१–उच्चगोत्र कर्म, २–नीच गोत्र कर्म।

जिस कर्म के उदय से जीव उत्तम कुल में जन्म लेता है वह उच्च गोत्र कहलाता है। जिस कर्म के उदय से जीव नीच कुल में जन्मता है, वह नीच गोत्र है। धर्म और नीति के सम्बन्ध से जिस कुल ने अतीतकाल से ख्याति अर्जित की है, वह उच्चकुल कहलाता है जैसे हरिवंश, इक्ष्वाकुवंश, चन्द्रवंश इत्यादि। अधर्म एवं अनीति करने से जिस कुल ने अतीतकाल से अपकीर्ति प्राप्त की हो वह नीचकुल है। उदाहरण के लिये—मद्यविक्रेता, वधक इत्यादि।[3]

उच्चगोत्र की उत्तर प्रकृतियाँ आठ हैं[4]—

१–जाति उच्चगोत्र	५–तप उच्चगोत्र
२–कुल उच्चगोत्र	६–श्रुत उच्चगोत्र
३–बल उच्चगोत्र	७–लाभ उच्चगोत्र
४–रूप उच्चगोत्र	८–ऐश्वर्य उच्चगोत्र

नीच गोत्रकर्म के आठ प्रकार प्रतिपादित हैं।[5]

१–जाति नीचगोत्र	५–तप नीचगोत्र
२–कुल नीचगोत्र	६–श्रुत नीचगोत्र
३–बल नीचगोत्र	७–लाभ नीचगोत्र
४–रूप नीचगोत्र	८–ऐश्वर्य नीचगोत्र

जाति और कुल के सम्बन्ध में यह बात ज्ञातव्य है कि—मातृपक्ष को जाति और पितृपक्ष को कुल कहा जाता है। गोत्रकर्म कुम्भकार के सदृश है। जैसे कुम्हार छोटे-बड़े अनेक प्रकार के घड़ों का निर्माण करता है, उनमें से कुछ घड़े ऐसे होते हैं जिन्हें लोग कलश बनाकर, चन्दन, अक्षत, आदि से चर्चित

---

१. प्रज्ञापना सूत्र २३/१/२८८ टीका ।।

२. (क) गोयं कम्मं तु दुविहं, उच्चं नीयं च आहियं ।।
उत्तराध्ययन सूत्र–३३/१४ ।।
(ख) प्रज्ञापना सूत्र पद–२३/उ० सू० २९३ ।।
(ग) तत्त्वार्थ सूत्र–अ० ८ सूत्र–१२ ।।

३. तत्त्वार्थ सूत्र ८/१३ ।। भाष्य ।।

४. उच्च अट्ठविहं होइ ।
उत्तराध्ययन सूत्र–३३/१४

५. प्रज्ञापना सूत्र २३/१/२९२

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

करते हैं, अर्थात् वे घड़े कलश रूप होते हैं अतः वे पूजा योग्य हैं। और कितने ही घड़े ऐसे होते हैं, जिनमें निन्दनीय पदार्थ रखे जाते हैं और इस कारण वे निम्न माने जाते हैं। इसी प्रकार इस कर्म के प्रभाव से जीव उच्च और नीच कुल में उत्पन्न होता है।[1] इस कर्म की अल्पतम स्थिति आठ मुहूर्त की है और उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटाकोटि सागरोपम की बताई गई है।[2]

८. अन्तराय कर्म :

जिस कर्म के प्रभाव से एक बार अथवा अनेक बार सामर्थ्य सम्प्राप्त करने और भोगने में अवरोध उपस्थित होता है, वह अन्तराय कर्म कहलाता है।[3] इस कर्म की उत्तर-प्रकृतियाँ पाँच प्रकार की हैं—[4]

१–दान अन्तराय कर्म २–लाभ अन्तरायकर्म
३–भोग अन्तराय कर्म ४–उपभोग अन्तरायकर्म
५–वीर्य अन्तरायकर्म

यह कर्म दो प्रकार का है—१–प्रत्युत्पन्न विनाशी अन्तरायकर्म २–पिहित आगामिपथ अन्तरायकर्म।[5] इसकी न्यूनतम स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम की बताई गई है।[6]

अन्तराय कर्म राजा के भण्डारी के सदृश है। राजा का भण्डारी राजा के द्वारा आदेश दिये जाने पर दान देने में विघ्न डालता है, आनाकानी करता है, उसी प्रकार प्रस्तुत कर्म भी दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में विघ्न-बाधाएँ उपस्थित कर देता है।[7]

इस प्रकार कर्म परमाणु कार्य-भेद की विवक्षा के अनुसार आठ विभागों में बँट जाते हैं। कर्म की प्रधान अवस्थाएँ दो हैं – बन्ध और उदय। इस तथ्य

---

१. जह कुंभारो भंडाइं कुणइ पुज्जेयराइं लोयस्स ।
इय गोयं कुणइ जियं, लोए पुज्जेयरानत्थं ।।
स्थानांग सूत्र–२/४/१०५ टीका

२. उत्तराध्ययन सूत्र–अ० ३३/२३ ।।

३. पंचाध्यायी २/१००७ ।।

४ दाणे, लाभे य भोगे य, उवभोगे वीरिए तहा ।
पंचविहमंतरायं समासेण वियाहियं ।।
उत्तराध्ययन सूत्र–३३/१५

५. स्थानांग सूत्र २/४/१०५

६. उत्तराध्ययन सूत्र–अध्ययन–३३ गाथा–१६

७. स्थानांग [illegible]

आ. श्री. कैलाससागर सू.

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

को यों भी अभिव्यक्त किया जा सकता है कि—ग्रहण और फल ! कर्म-संग्रहण में जीव परतन्त्र नहीं है और उस कर्म का फल भोगने में वह स्वतन्त्र नहीं है, कल्पना कीजिये—एक व्यक्ति वृक्ष पर चढ़ जाता है, चढ़ने में वह अवश्य स्वतन्त्र है। वह स्वेच्छा से वृक्ष पर चढ़ता है। प्रमाद के कारण वह वृक्ष से गिर जाय ! गिरने में वह स्वतन्त्र नहीं है। इच्छा से वह गिरना नहीं चाहता है तथापि वह गिर पड़ता है। निष्कर्ष यह है कि वह गिरने में परतन्त्र है।

वस्तुतः कर्मशास्त्र के गुरु गम्भीर रहस्यों का परिज्ञान होना अतीव आवश्यक है। रहस्यों के परिबोध के बिना आध्यात्मिक-चेतना का विकास-पथ प्रशस्त नहीं हो सकता। इसलिये कर्मशास्त्र की जितनी भी गहराइयाँ हैं, उनमें उतरकर उनके सूक्ष्म रहस्यों को पकड़ने का प्रयत्न किया जाय। उद्घाटित करने की दिशा में अग्रसर होने का उपक्रम करना होगा।

हमारी जो आध्यात्मिक चेतना है, उसका सारा का सारा विकास क्रम मोह के विलय पर आधारित है। मोह का आवेग जितना प्रबल होता जाता है, मूर्च्छा भी प्रबल और सघन हो जाती है, परिणामतः हमारा आचार व विचार पक्ष भी विकृत एवं निर्बल होता चला जाता है। उसके जीवन-प्राङ्गण में विपर्यय ही विपर्यय का चक्र घूमता है। जब मोह के आवेग की तीव्रता में मन्दता आती है, तब स्पष्ट है कि उसकी आध्यात्मिक चेतना का विकास-क्रम भी बढ़ता जाता है। उसको भेद-विज्ञान की उपलब्धि होती है। मैं इस क्षयमाण शरीर से भिन्न हूँ, मैं स्वयं शरीर रूप नहीं हूँ। इस स्वर्णिम समय में अन्तर्दृष्टि उद्घाटित होती है। वह दिव्य दृष्टि के द्वारा अपने आप में विद्यमान परमात्म-तत्त्व से साक्षात्कार करता है।

इस प्रकार प्रस्तुत निबन्ध की परिधि को संलक्ष्य में रखकर जैन कर्म-सिद्धान्त के सम्बन्ध में शोध-प्रधान आयामों को उद्घाटित करने की दिशा में विनम्र उपक्रम किया गया है। यह एक ध्रुव-सत्य है कि जैन-साहित्य के अगाध-अपार महासागर में कर्म-वाद-विषयक बहुआयामी सन्दर्भों की रत्नराशि जगमगा रही है। जिससे जैन-वाङ्मय का विश्व-साहित्य में शिरसि-शेखराय-माण स्थान है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org